



**THE TIMES OF INDIA**

**Date: 21-08-17**

## Hit the tourism jackpot

*Here are some concrete steps to translate 'Atithi Devo Bhava' into reality*

**Pavan K Varma**



Atithi Devo Bhava', which means that a guest is akin to god, is one of India's most ancient maxims. If we had more successfully translated this into economic dividends, India should have been among the top 10 countries in the world for tourism. However, even today, we are ranked 40<sup>th</sup> globally by the Travel and Tourism index of the World Economic Forum (WEF). This is a pity, because even at a relatively paltry figure of some eight million tourists annually, which includes NRIs, the World Travel and Tourism Council estimates that tourism generated \$220 billion in 2016, which was 9.6% of our GDP. Tourism also supported close to 41 million jobs or 9.3% of total employment in the country. To be fair, we have made some progress. In 2015 our position was

52<sup>nd</sup> on the tourism global index, so we have moved up 12 places. WEF, in its annual report, identified India as 'a bright spot in the global tourism scenario'. But if we see our performance on a comparative scale, there is reason to ask why India, which has everything from the Himalayas to the best beaches and wildlife sanctuaries, and an unparalleled cultural and spiritual heritage, not to speak of new sectors like medical tourism, is still lagging behind.

It should make us think why China receives 57 million tourists a year, seven times more than us, and has become the fourth biggest destination for international travellers. It is true that with our resources we cannot compete with Spain, France, Germany, US, UK and Italy. But surely we can ask why Turkey gets 40 million tourists, or Mexico over 32 million. In Asia, Malaysia gets 27 million, Thailand 30 million, and Indonesia over 10 million. Vietnam gets almost the same number as us. In fact Thailand, Vietnam and South Korea have doubled their number of tourists in the last decade. Other developing countries like South Africa and Morocco also get higher tourist arrivals. Considering the contribution tourism makes to our GDP and employment figures, especially since it is educationally a low-threshold employer and jobs are scarce – the impact of a scenario where we can double the number of foreign tourists in the next five years – to say 16 million, which is still less than one-third of what China has achieved – is staggering. Can we take the necessary steps to reach this goal, and if so, what needs to be done?

Firstly, the government must realise the immense potential of this sector. Currently, tourism gets only some 0.1% of the central budget outlay. Perhaps this is because tourism is a state subject. But why can't it be put in the concurrent list of the Constitution? I understand 18 states are agreeable to this move. A carefully crafted National Tourism Policy, to avoid ad hoc measures and promote holistic planning and standardisation, is also long overdue. The introduction of e-visas is a good step, but some procedural

hassles still need to be ironed out. Thought should be given to waive visa fees in the lean tourist season, from April to September. Special projects, like coastal and river tourism, need to be developed. Our luxury tourist trains – like the original Palace on Wheels – are a great product, but excessive haulage charges have made prices prohibitive and occupancy rate low. The tax structure on hotels could be reviewed for India to retain its competitive edge as a tourist destination. Aviation capacities at metro airports, which are saturated with non-availability of new flying slots and parking bays, require urgent expansion.

Further, the disinvestment of Indian Tourism Development Corporation (ITDC) hotels must be expedited. The government has rightly said that running and managing hotels on professional lines is not the work of the government or its entities. The vast 'sarkari' Ashok Hotel in New Delhi sits on by far the most expensive real estate of any five-star hotel, but its services are far from five-star. Far more attention needs to be given to facilities at world heritage sites and prominent historical monuments. I was horrified to find, on a recent visit to Hampi which is a world heritage site, that there is no decent public toilet or even a serviceable café. I had mentioned this to our tourism minister some time ago, and perhaps this has been rectified. But facilities at other such sites do need to be upgraded. It is time too for the next big idea to promote tourism globally, after 'Incredible India' which dates back to 2002. Government offices abroad do very little promotion, and should be closed. The best professional agencies, in India and abroad, need to be harnessed for a new campaign, and they should not hesitate to tackle some uncomfortable truths like foreigners being duped by touts, women receiving unwanted male attention, and lack of hygiene and cleanliness. 'Atithi Devo Bhava' is not merely a concept. It needs to translate into reality and become one of our most important engines of economic growth. A time-bound plan to double tourist arrivals by the year 2022 needs to be drawn up. In this doable task, a full time tourism minister would be of great help.



**Date: 20-08-17**

## सामाजिक बहिष्कार का दंश

**रिजवान निजामुद्दीन अंसारी**

सामाजिक बहिष्कार संस्कृति और राष्ट्र के विकास में बहुत बड़ी बाधा है। हाशिये पर जी रहे लोगों के उत्पीड़न की घटनाएं बताती हैं कि इस कंप्यूटर युग में भी हमारा समाज किस प्रकार दकियानूसी सोच से ग्रसित है। पिछले महीने जब महामहिम रामनाथ कोविंद ने देश के चौदहवें राष्ट्रपति के रूप में पद की शपथ ली, तो एक उम्मीद जगी कि दलितों के हालात बेहतर होंगे। लेकिन जिस दिन उन्होंने पद की शपथ ली, उसी दिन आंध्र प्रदेश से दलितों के सामाजिक बहिष्कार की खबर ने मायूस किया। गोदावरी जिले के तीन सौ से ज्यादा दलित परिवार उच्च जाति द्वारा कथित सामाजिक बहिष्कार के विरोध में उपवास पर बैठ गए। इस प्रकार की घटनाएं बताती हैं कि समाज में समरसता लाने की कोशिश को कहां-कहां और किस तरह पलीता लगाया जा रहा है। पिछले दिनों ही तत्कालीन राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी ने महाराष्ट्र सामाजिक बहिष्कार (निषेध व निवारण) अधिनियम, 2016 को मंजूरी दी। इसके साथ ही महाराष्ट्र ऐसा कानून लाने वाला पहला राज्य बन गया। इसके तहत दोषियों को तीन साल तक की सजा और एक लाख रुपए जुर्माने का प्रावधान है। जातीय भेदभाव, जाति पंचायत, धार्मिक जुलूस, रैली, स्कूल व मेडिकल सुविधाएं रोकने जैसे व्यवहार को इस कानून के अंतर्गत अपराध माना गया है। इससे महाराष्ट्र ने दीगर राज्यों के सामने एक नजीर तो पेश की ही है, साथ ही उसके इस कदम से सामाजिक और जातिगत बहिष्कार जैसे कृत्यों पर बहस तेज हुई। लंबे अरसे से महाराष्ट्र में जाति पंचायतों द्वारा गैरकानूनी फरमान जारी करने के खिलाफ आंदोलन चलाए जा रहे थे। लेकिन सवाल है कि इस तरह के कानून से हालात कितने बदलेंगे?

गौरतलब है कि जाति, धर्म, लिंग आदि के आधार पर होने वाले भेदभाव को रोकने के लिए पहले ही कई आयोग तथा कानून भी बनाए जा चुके हैं। अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयोग (1990), राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग (1993), राष्ट्रीय महिला आयोग (1992), राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग (2007), अनुसूचित जाति एवं जनजाति (अत्याचार निरोधक) अधिनियम (1989) आदि जातिगत और सामाजिक बहिष्कार को रोकने के लिए कानूनी तौर पर सक्षम हैं, लेकिन स्थिति में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ। जाति पंचायत की मनमानी के खिलाफ नए अधिनियम का पारित होना बेशक शुरुआती जीत है, लेकिन सरकार के सामने सबसे बड़ी चुनौती इस कानून के क्रियान्वयन की है। आए दिन जाति पंचायतों की मनमानी या किसी का सामाजिक बहिष्कार करने के उनके फरमान की खबरें आना जाहिर करता है कि सरकारी महकमे या पुलिस-तंत्र केवल कागजी खानापूति में मशगूल हैं। दरअसल, गांवों में जाति तथा वर्ग के आधार पर जाति पंचायतों का काफी बोलबाला रहा है। सामाजिक व पारिवारिक समस्याओं का निपटारा जाति पंचायत द्वारा ही करने की परिपाटी रही है। इनके फैसले अतार्किक और पूर्वाग्रह से ग्रसित होने के बावजूद गरीब लोगों पर मानने की बाध्यता रहती है। इन फैसलों में सामाजिक बहिष्कार जैसे फरमान भी जारी होते रहे हैं। लिहाजा, पीड़ितों को सामाजिक शोषण सहने के साथ-साथ मानसिक यंत्रणा भी झेलनी पड़ी है।

इससे इतर देखें तो जाति या पेशे के आधार पर, सामूहिक सामाजिक बहिष्कार के उदाहरण भी मिलते हैं। गांवों या मोहल्लों में अनुसूचित जाति के लोगों को अलग-थलग रहने पर मजबूर करने और मल ढोने के लिए बाध्य करने की कुप्रथाओं का अभी तक उन्मूलन नहीं हो सका है। सहारनपुर में दलितों पर अत्याचार की हालिया घटनाएं हों या देश में मल ढोने की कुप्रथा जारी रहने के समाचार, यह बताता है कि किस प्रकार हमारी 'उच्चवर्गीय सोच' सारे कानूनों को धता बता रही है। यह राष्ट्रीय शर्मिंदगी का कारण तो है ही, सामाजिक समरसता के लिए गंभीर खतरा है। अगर मैला ढोने की प्रथा की बात करें, तो 2011 की जनगणना के मुताबिक देश भर में तब तेरह लाख लोग इस काम को कर रहे थे।

गौरतलब है कि आजादी के बाद 1948 में पहली दफा हरिजन सेवक संघ ने इस प्रथा पर रोक लगाने की मांग की थी। 1968 में राष्ट्रीय श्रम आयोग ने भी इस प्रथा पर रोक लगाने की सिफारिश की। इस कुप्रथा को खत्म करने की बहुत जुबानी कोशिशों के बाद 1993 में नरसिंह राव सरकार ने इसके उन्मूलन के लिए कानून बनाया, लेकिन किसी भी राज्य ने इसे सख्ती से लागू नहीं किया। सबसे नवीनतम प्रयास की बात करें, तो मनमोहन सिंह सरकार ने 'मैला ढोने का रोजगार निवारण और पुनर्वास अधिनियम, 2013' पारित किया, लेकिन स्थिति जस की तस बनी हुई है। दरअसल, यह स्थिति हमारी संकुचित मानसिकता और झूठी शान का ही नतीजा है। हम अपने ही आसपास के लोगों को एक दोयम दर्जे की जिंदगी बसर करने को विवश करते हैं और फिर भी खुद को सभ्य और साक्षर नागरिक की श्रेणी में गिनते हैं। अगर यह कहा जाए कि इन दबे-कुचले लोगों की समस्याएं सुलझाने के बजाय इनके बस वोट बटोरे जाते रहे, तो गलत नहीं होगा। हम देख रहे हैं कि मौजूदा दौर में गैर-जरूरी मुद्दों को राजनीतिक दल खूब तूल देते हैं और अपने राजनीतिक लाभ के लिए उसे राष्ट्रीय विमर्श तक का मुद्दा बना देते हैं। ये वे मुद्दे होते हैं जो न तो सामाजिक सरोकार से मेल खाते हैं और न ही इनका राष्ट्र के विकास से कोई लेना-देना होता है। सामाजिक बहिष्कार जैसा मसला आजादी के सत्तर साल बाद भी राष्ट्रीय विमर्श का मुद्दा नहीं हो सका तो इसे हमारे नीति-नियंत्रणों की नाकामी ही कहा जाएगा।

हमारी सरकारों को समझना होगा कि हाशिये पर जी रहे समूहों को समाज में बहिष्कार झेलना पड़ता है। लोग इन्हें अपने पास फटकने भी नहीं देते। खुलेआम समानता जैसे संवैधानिक मूल्य और प्रावधान की धजियां उड़ाई जाती हैं। समाज की यही तस्वीर हमें 'भारत' और 'इंडिया' में फर्क करने को बाध्य करती है। ऐसे में समरसता का और समावेशी संस्कृति का विकास कैसे संभव है? इस तरह, हम सभ्य समाज का निर्माण कैसे कर पाएंगे? सोचिए जहां मानवाधिकारों का हनन इतने व्यापक स्तर पर हो, वहां समाज की तस्वीर कैसी होगी? ऐसे समय में जब हमारी विकास दर ऊंची है और जल्दी ही हम एक महाशक्ति बन जाने का दम भरते हैं, हमारे देश में सामाजिक बहिष्कार जैसी प्रथा का जारी रहना एक कलंक ही कहा जाएगा। ऐसी स्थिति अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी हमारी छवि को नुकसान पहुंचाती है। लिहाजा, हमें यह सोच विकसित करने की जरूरत है कि जिन्हें हम तिरस्कार लायक समझते हैं, वे कोई और नहीं, हमारे अपने लोग हैं। इसके अलावा, सरकारी एजेंसियों को भी ऐसे मामलों में संवेदनशीलता दिखानी होगी। पुलिस विभाग की यह जवाबदेही बनती है कि वह कमजोर समूहों के उत्पीड़न की शिकायतों को गंभीरता से ले और फौरन कार्रवाई करे।

वास्तव में, हमारे नीति-नियंत्रणों को कानून बना कर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेने के बजाय सामाजिक बहिष्कार जैसी समस्याओं के मूल कारण के निवारण पर बल देना होगा। जो लोग सशक्त होते हैं, समाज में उन्हें प्रतिष्ठा की नजरों से देखा जाता है। यह स्वाभाविक है और ऐसा सारी दुनिया में होता है। लेकिन एक न्यूनतम मानवीय गरिमा के साथ जीना हरेक व्यक्ति का अधिकार है, चाहे उसकी

आर्थिक व सामाजिक पृष्ठभूमि जैसी भी है। हमारे संविधान के अनुच्छेद-21 में जीने के अधिकार की जो गारंटी दी गई है उसका यही आशय है। संविधान के इस अनुच्छेद को सार्थक बनाने के लिए बहुत कुछ करना होगा, और वही हमारे आर्थिक व सामाजिक विकास की सही दिशा होगी।



**Date: 20-08-17**

## A healthy partnership

***Strengthening of public health services must go along with leveraging of private sector resources.***

***By Amitabh Kant The writer is CEO of Niti Aayog***



I read with great interest the article by Sujatha Rao (‘A strange hybrid’, IE, August 11) in which she has pointed to the so-called shortcomings in Niti Aayog’s draft proposal offering space in select district hospitals to private players through a transparent, competitive Private-Public Partnership (PPP) framework for the treatment of non-communicable diseases (NCDs). Engaging with alternative points of view is an essential part of a robust policy-making and when it is articulated by Rao, a former Union Health Secretary, it merits detailed consideration.

While she points out the potential cost and equity implications of partnering with “profit maximising” private providers, it is inconceivable that she is unaware of the failings of our publicly provided health services. The recent Gorakhpur tragedy is just another reminder of the tragic consequences ultimately borne by our citizens. After decades of effort at strengthening our health system, we are still grappling with the rampant absenteeism of doctors — ranging from 28 per cent to 68 per cent in different states. Community Health Centres report a 65 per cent vacancy rate of specialists since governments are simply unable to attract and retain talent. Even where we are able to get them to attend to their jobs, it has been shown by Jishnu Das and his colleagues in their study, the effort put in by qualified doctors in government facilities is far worse than their private counterparts.

Our tertiary facilities are disproportionately overloaded. The NSSO’s 71st round registered a decline in the share of in-patient services provided by government-owned facilities in 12 out of 20 major states in rural areas and in 17 out of 21 states in urban areas. All this while, almost as if by default, the private sector continues to grow at 15 per cent per annum, accounting for 58 per cent of rural and 68 per cent of urban in-patient care with 80-90 per cent of health facilities and a five-fold higher doctor density. In reality, we have abandoned the patient to negotiate this maze, where her bargaining power vis-à-vis the



provider is the lowest. Little wonder then that 37 million people face impoverishment on account of health-related expenditure. While this happens, the increase in government expenditure to 2-2.5 per cent of GDP for the expansion of public health services fails to fructify, and has hovered in the range of 0.9-1.3 per cent from 1990 till date. The Niti Aayog is also for enhanced government expenditure on health. In fact, the Aayog, in its draft Three Year Action Agenda, has urged the government to treble its health budget by 2019-20. Non-communicable diseases account for 60 per cent of the premature mortality in India and cardiovascular diseases, pulmonary diseases, cancer, as well as hypertension, diabetes and stroke are among the leading killers, accounting for four of the top five causes of death, according to the Institute for Health Metrics and Evaluation. Yet the allocation in the Union budget to meet the growing need for NCD care is barely 3 per cent of the total allocation of Rs 20,000 crore under the National Health Mission (NHM). Take cancer as an example: India has 750 radiotherapy units against a requirement of 1,300.

Even amongst the existing units, many are ill-equipped. In the prestigious AIIMS at New Delhi, we have 1.33 lakh cancer patients seeking care, of which only 36,000 get admitted with the number of beds available for chemotherapy being a mere 36. In my view, the urgency with which the supply shortage requires to be plugged precludes an either/or approach. It requires the strengthening public sector while also leveraging private resources and capacities. Supply gaps cannot be addressed in the short term. Long-term measures are being put in place through several initiatives, including restructuring the Medical Council of India. However, the intent of this exercise is to experiment with an innovative PPP model to develop capabilities at the district level.

The aim is to ensure that district hospitals provide basic services for the diagnosis and treatment of NCDs at affordable rates or free of cost for those patients for whom the government chooses to cover such costs through insurance or through budgetary grants. This will help decongest tertiary level health facilities, help in the geographic dispersal of skills required for NCD care and provide quality care to people closer home at a lower cost.

PPP models suffer from a lack of evaluation. However, the lack of evidence must not be read as failures. In fact, several PPP initiatives including in the areas of emergency transport services, mobile medical units, provision of free diagnostics service initiative, have been successful as well popular. Another apprehension is the long-run impact on healthcare costs, since private providers do have incentives to over provide high-cost interventions. Prima facie, this is a compelling argument. But if we situate this in the current context where a majority of patients already go to private facilities, the direction of the cost implication is not exactly clear. We hope that such experimentation would provide data and evidence that would inform the future policy direction.

Global evidence may not be sufficient to determine whether the private or public sector is more efficient in service delivery for health. In the interim, how many lives do we sacrifice to satisfy ideologically-driven pursuits? The Aayog is determined to push for the transformation of our health sector and this PPP framework is only a small part of a larger strategy. We are trying to work with all stakeholders to focus on health outcomes with rankings to measure incremental annual improvements, fostering a competitive spirit amongst states. A similar index has been developed to measure the performance of district hospitals. Financial incentives have been linked to both these indices. We are partnering with states to provide technical support in order to bring about transformational change in their health systems over the next three years. The strengthening of public sector services must go hand-in-hand with leveraging the resources of all players in the Indian health system. Constructive suggestions are always welcome, but arguments that seek to shoot down innovative efforts, without providing an alternate strategy are

frozen in outdated ideology and are self-defeating.

---